अष्टम अध्याय

सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष

सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष

वर्ण-व्यवस्था

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-कृति के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गुप्तजी को प्राचीन समाज-व्यवस्था के प्रति असीम श्रद्धा और आस्था है। वे विज्ञान के नवीन ज्ञानालोक का भी अभिनन्दन करते हैं, सभी सुधारवादी सिद्धान्तों का हृदय से स्वागत करते हैं, अपने उपास्य देवों को आधुनिक सुधारवादी महामानव के रूप में चित्रित करते हैं, किन्तु भविष्य समाज की आदर्श रूप-रेखा के चित्रांकन में यथासम्भव प्राचीन का ही प्रत्यावर्तन चाहते हैं। गुप्तजी चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्व यथावत स्थिर रहें और सामयिक परिवर्तनों के फलस्वरूप समाज के बाहरी ढाँचे में परिवर्तन कर लिया जाय। वास्तव में जिस समाज को अनस्तित्व के क्रूर गर्त्त में निपतित नहीं होना है उसे जीवित के लक्षणों के अनुसार युगानुरूप परिवर्तन के लिए तो तत्पर रहना ही चाहिए। तत्वत: गुप्तजी के समकालीन अधिकांश चिन्तक समाज-सुधार के लिए इसी दृष्टि को अपनाते नजर आते हैं। प्रसिद्ध लेखक और चिन्तक आचार्य चतुरसेन शास्त्री का मत है कि " युग-धर्म के अनुसार महाजातियों की संस्कृतियाँ बदलती रहती हैं। जो जाति अपनी संस्कृति को युग-धर्म के अनुकूल नहीं बना सकती, वह देर तक जीवित नहीं रह सकती। हिन्दू जाति ने अपनी संस्कृतियों को समय-समय पर बदला है, यद्यपि संसार की सभी जातियों के इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं- परन्तु मूल संस्कृति स्थिर रखते हुए केवल आर्थिक परिवर्तन भारत ही में हुए हैं। "[1]

गुप्तजी समाज की स्वस्थ विकासशीलता के लिए उदार मानवतावादी सिद्धान्तों के आधार पर आश्रम-व्यवस्था को आवश्यक मानते हैं। उन्होंने यह

1- आचार्य चतुरसेन : हिन्दू समाज का नव निर्माण; सं० 1975 ई०; पृ०-40

चित्रण किया है कि उत्तम व्यक्ति समाज के सर्वतोमुखी विकास में सहायक होता है और आदर्श एवं सन्तुलित व्यक्ति उत्तम समाज का निर्माता होता है। यदि समाज की इकाई व्यक्ति ही ठीक नहीं होगा तो समाज में सन्तुलन, व्यवस्था और विकास कैसे हो सकेगा? प्राचीन सामाजिक रूप-रेखा के विधायकों ने इसी आदर्श की चरितार्थता के निमित्त आश्रम-व्यवस्था की स्थापना की थी। यह व्यवस्था अधिकारों और कर्त्तव्यों की अन्योन्याश्रयता पर आधृत है। वे इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे कि अधिकारों के उपयोग और कर्त्तव्यों के पालन के संतुलन से ही व्यक्ति का पूर्ण विकास संभव है। इसीलिए उन्होंने आश्रम-व्यवस्था में अधिकारों और कर्त्तव्यों की समुचित योजना की तथा इन्हें ही इस व्यवस्था की आधार-शिला का स्थान दिया। इनकी कृतियों में कोई आदर्श और अनुकरणीय व्यक्ति अधिकार की माँग नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति तो जागरूक है, किन्तु अधिकारों के प्रति उदासीन। कवि का विश्वास है कि नागरिक जब कर्त्तव्य के प्रति उदासीन एवं अधिकार के प्रति सजग हो जाता है तब समाज पतनोन्मुख हो जाता है। इसीलिए इनके ग्रन्थों के सभी सत्पात्र अपने कर्त्तव्य के प्रति अतिशय दृढ़, अडिग और सक्रिय हैं, किन्तु अधिकारों के उपभोग का प्रश्न इन्होंने गुरुजनों के ऊपर सौंप रखा है। यह तो समाज के उच्चस्तरीय व्यवस्थापकों का कार्य है। उन्हें देखना चाहिए कि त्यागियों, तपस्वियों और समर्पित सेवा-भावापन्न व्यक्तियों को कोई उनके उचित अधिकारों से वंचित न कर सके। व्यक्तियों की क्रियाशीलता का प्रेरक उपकरण अधिकार या उपभोग्य पदार्थ न होकर धर्म-भावना रहे तो समाज का अकल्याण हो नहीं सकता। आधुनिक विचारकों का मत है कि यह वर्ण-व्यवस्था बहुत प्राचीन काल से संसार के प्रत्येक समाज में रही है, वर्त्तमान काल में भी सर्वत्र है तथा भविष्य में भी इसके नष्ट होने की कोई संभावना नहीं है। वार्ड[1], हट्टन[2] और मेकाइवर[3] आदि प्रख्यात

1- एल0एफ0 वार्ड - सोशल क्लासेस एण्ड सोसियोलॉजिकल थ्यौरी इन अमेरिकन जर्नल आफ् सोसाइटी ; पृष्ठ - 517-27

2- आर0एम0 मेकाइवर - कम्युनिटी ; पृष्ठ - 124

3- जे0एच0 हट्टन - कास्ट इन इण्डिया ; पृष्ठ - 64

समाजशास्त्रियों ने पर्याप्त अध्ययन और मनन के पश्चात् इसी आशय के मत व्यक्त किये हैं।

गुप्तजी ने " वर्ण " और " जाति " में भेद माना है। यहाँ " वर्ण " का अर्थ है " चुनना " और " जाति " का अर्थ है " जन्म लेना "। कुछ विद्वान " वर्ण " शब्द का अर्थ " रंग " मानते हैं, किन्तु सामाजिक संदर्भ में यह एक वर्ग या व्यवस्था को व्यक्त करता है। हिन्दू जाति में लोगों को धर्म की अवधारणा के सम्बन्ध में प्राय: विभ्रान्त पाया जाता है। बहुत से लोग धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या पूजा-पाठ से लेते हैं। वास्तव में धर्म न तो सम्प्रदाय को कहते हैं और न पूजा पाठ को ही। " वृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि प्रारम्भ में एक ब्रह्म ही था, किन्तु अकेला होने के कारण विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ, अत: उसने क्रमश: क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की रचना की। यह धर्म क्षत्रिय का भी नियन्ता है। इस धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। इस धर्म की सहायता से निर्बल पुरुष भी सबल को जीतने की इच्छा करने लगता है। धर्म ही सत्य है और सत्य ही धर्म है। धर्म और सत्य एक ही है। महाभारत में भी इसी आश्रय की व्याख्या मिलती है। वेदव्यास जी कहते हैं कि जिससे अभ्युदय और कल्याण होता है, वही धर्म है। धर्म का नाम इसलिए पड़ा कि वह सबको धारण करता है- अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है ; अत: जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता है, वही धर्म है।"।

वर्ण-व्यवस्था के द्वारा पुरुषार्थ-चतुष्टय की उपलब्धि के लिए लोगों को प्रेरित किया जाता है। प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक जाति के लोग अपना-अपना कार्य निष्ठापूर्वक करते चलें तो विश्व की सारी समस्याओं का उन्मूलन हो जाए।हमें

1- धारणाद् धर्मीमत्याहुर्धर्मेण विधृता: प्रजा:। महाभारत: शान्तिपर्व, 109/11
य: स्याद् धारण संयुक्त: सधर्म इति निश्चय:॥

अपने समाज के सामूहिक सम्बन्ध उसी नियम पर बनाने चाहिए जिन पर कि हमारा छोटा-सा गृहस्थ चल रहा है। हमारे गृहस्थ में हमारे पिता हैं, दादा हैं, भाई हैं, उनकी पत्नियाँ हैं, सबके बच्चे हैं, नौकर हैं, पशु हैं, उपजीवी हैं, अतिथि हैं, इन सबकी परिस्थिति भिन्न-भिन्न हैं, पर सब सहयुक्त हैं। पिता जो घर का सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, बच्चे को छाती पर रखकर खिलाता है, उसके मलमूत्र उठाता है, गृहिणी परिवार की सेवा में व्यस्त है, इस पूरे संगठन में अधिकार का महत्व नहीं है - प्रेम और कर्त्तव्य का ही महत्व है।

भारतीय मनीषा ने चारों पुरुषार्थों के सम्पादन का मूल आधार किसी वर्ण को माना है। वर्ण की व्यवस्था शुद्ध और श्रेयष्कर रूप में रक्षित रहे तो निश्चय ही समाज का काया-कल्प हो जाए। " इन चारों आश्रमों के उद्देश्य के संबंध में महाभारत में व्यास जी कहते हैं कि यदि कोई भी पुरुष इन आश्रमों में धर्मों का राग-द्वेष से शून्य होकर विधि-पूर्वक अनुष्ठान कर ले, तो वह परब्रह्म परमात्मा को तत्व से जानने का अधिकारी हो जाता है। ये चारों आश्रम ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं और ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए चार पैंडीवाली सीढ़ी के समान माने गये हैं। इस सीढ़ी पर चढ़ कर मनुष्य ब्रह्मलोक में सम्मानित होता है। आधुनिक शब्दों में आश्रम व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का विधान है।"[1] वर्ण की व्यवस्था सम सहयोग के लिए की गयी है। यह सम सहयोग ही मनुष्य जाति के निमित्त सबसे उत्कृष्ट संगठन है। माता अपनी सन्तान के लिए सबकुछ त्यागती है और पिता पुत्र के लिए सब कुछ त्यागता है। प्रेम और कर्त्तव्य की खरी कसौटी तो यही है कि प्रति व्यक्ति दूसरे के लिए अधिक से अधिक त्याग करे, अधिक से अधिक विश्वास करे और अधिक से अधिक अपना समझे। अपने में और उसमें तनिक भी भेद -भाव न रखे। निश्चय ही मानव मात्र के लिए कल्याण का एक मात्र

1- शम्भुरत्न त्रिपाठी - भारतीय समाज और संस्कृति ; प्रकाशन काल - सन् 1970 ई०, पृष्ठ - 224

मार्ग यही है। इन सारे सद्भावों का और जीवन के गूढ़ रहस्यों का प्रसार-प्रचार कार्य ब्राह्मणों को सौंपा गया था। विद्यार्जन और विद्यादान ये ही दो उनके मुख्य कार्य थे, किन्तु काल-चक्र में पिस कर उन्होंने स्वकर्म का लोभवश त्याग किया और देश के सभी वर्गों के पतन के कारण हुए। जब मस्तिष्क ही ठीक न रहे तो शरीर क्या ठीक रहेगा। अतएव जब समाज के चिन्तकों का वर्ग ब्राह्मण समुदाय ही विभ्रष्ट हो गया तब भविष्य तो दुःसमय होना ही था। ब्राह्मण-वर्ण के विपर्यय से क्षुब्ध होकर गुप्तजी ने जो उद्गार व्यक्त किया है वह नयनों स्वीकारक है :-

" जिन ब्राह्मणों ने लोभ को सतत तिरस्कृत था किया -
देखो, उन्हीं के वंशजों को आज उसने ग्रस लिया
अब आप उनकी दक्षिणा पहले नियत कर दीजिए -
फिर निन्द्य से भी निन्द्य उनसे काम करवा लीजिए।।
आचार उनका आज केवल रह गया " असनान " में,
जप, तप तथा वह तेज अब है शेष बाह्य-विधान में।
वे भ्रष्ट यद्यपि हो रहे हैं डूबकर अज्ञान में,
जाते मरे हैं किन्तु फिर भी वंश के अभिमान में।।
था हाय! जिनके पूर्वजों ने धन्य धरणीतल किया,
इस लोक की, परलोक की, पृथ्वावली को हल किया।
सर्वत्र देखो, आज वे कैसे तिरस्कृत हो रहे,
खोकर तपोबल, ज्ञान-धन, जीते हुए मृत हो रहे।। "[1]

वर्ण व्यवस्था के मौलिक एवं विशुद्ध रूप को ही इन्होंने दर्शाया है। समय समय पर उसमें जो बाह्याडम्बर का समावेश हुआ है उसको उन्होंने सर्वथा त्याज्य बताया है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी अपने-अपने कर्तव्यों में लगे

1- मैथिलीशरणगुप्त - भारतभारती : 2023 वि० : पृष्ठ - 136

रहे तो समाज का विकास निरन्तर अबाधगति से सम्भव है। यदि वर्ण व्यवस्था से व्यक्ति विमुख हो जाए तो वह अभिशाप के रूप में ही सिद्ध होगा। साकेत में कवि ने परशुराम के सम्बन्ध में लिखा है कि उनकी मुनिता पूज्य है, द्विजता नहीं :-

" द्विजता तक आततायिनी।
बध में है कब दोषदायिनी। "1

गुप्तजी के काव्य में तत्कालीन समाज के ब्राह्मणों का चित्रण हुआ है। ब्राह्मण लोगों से केवल भोजन और वस्त्र की भिक्षा प्राप्त कर लेते है एवं उन्हें अपने जीवन की सारी संचित ज्ञान-राशि सौंप देते हैं। उन्हें धर्म-कर्म की शिक्षा देते हैं। उन्हें धन-संचय की आवश्यकता नहीं होती :-

" लेता हूँ कुछ से मैं अपने
अन्न-व्यसन की भिक्षा।
देता हूँ कुछ को मैं उनको
धर्म-कर्म की शिक्षा। "2

कवि नरोत्तमदास ने भी यह भाव अपने काव्य में व्यक्त किया है :-

" औरन को धन चाहिए बाँवरि
बामन को धन केवल भिच्छा। "

गुप्तजी ने क्षत्रियों की दुरावस्था का भी बड़ा ही मार्मिक चित्र अंकित किया है। देश की पराधीनता और विपन्नता के मूल में क्षत्रियों का प्रमोद और विलास ही प्रमुख है। उन्होंने देश-रक्षा, जन-हित और आर्त-रक्षा के स्थान पर

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2031 वि० ; पृ० - 293
2- मैथिलीशरणगुप्त - द्वापर ; 2027 वि० ; पृ० - 214

अति भोग और पारस्परिक कलह को अपना लिया है। समाज के रक्षण के प्रहरी वे अब नहीं रहे, अब वे स्वार्थ-रक्षा के प्रहरी हो गये हैं।

" विटपों के बाहुज अतः कर्तृत्व के जो केन्द्र थे,
जो क्षत्र थे निज देश के, मूर्धाभिषिक्त नरेन्द्र थे।
आलस्य में पड़कर वही अब शव-सदृश हैं सो रहे;
कुल, मान, मर्यादा-सहित सर्वस्व अपना खो रहे॥ "1

x x x

जो देश के प्रहरी रहे घर फूँकने वाले बने,
जो वीरवर विख्यात थे वे स्वैरता में हैं सने।
सुर-कार्य्य-साधक जो रहे अब दुर्व्यसन में लीन हैं,
जो थे सहज स्वाधीन वे ही आज विषयाधीन हैं॥ "2

गुप्तजी ने वैश्यों को सामाजिक ढाँचे का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंग माना है। उनके सहयोग के बिना सामाजिक जीवन का सम्पोषण ही संभव नहीं है। जहाँ-जहाँ उन्होंने सामाजिक सुव्यवस्था का चित्रण किया है वहीं वैश्यों के महत्व तथा गरिमा का आख्यान किया है।

गुप्तजी वर्ण-व्यवस्था के अनुयायी होकर भी सर्वत्र सामाजिक समानता की ओर अपने काव्य में उन्मुख हुए हैं। इसीलिए " पंचवटी " काव्य में समाज में नीच समझे जाने वाले शृङ्गवेर गुह, निषाद और शबरों के प्रति क्षत्रिय-कुल-भूषण राम का व्यवहार अत्यन्त मधुर है। वे वन में रहते हुए उन लोगों को प्रसन्न रखने का यथेष्ट प्रयत्न करते हैं। वे उनके जीवन स्तर के उन्नयन के लिए संकल्पायित हैं। दलितों और शूद्रों के विषय में कवि का कहना है कि ये भी मनुष्य हैं

1- मैथिलीशरणगुप्त - भारतभारती ; 2023 वि० ; पृष्ठ - 209
2- वही, पृष्ठ - 213

एवं इनके पास भी भावों से भरा हृदय है। अन्तर केवल इतना है कि इनको शिक्षा की सुविधा प्राप्त न होने के कारण इनकी अभिव्यक्ति की शक्ति प्रखर नहीं है। वे राम की भाँति उनके उन्नयन के लिए व्यग्र हैं। उनका विश्वास है कि यदि इन्हें दिशा प्रदान की जाए और उनके उन्नयन का विधान तो वे द्विज के समकक्ष होकर उनका भी अतिक्रमण कर लोक-सम्पूज्य हो सकते हैं। इसके सबसे बड़े प्रमाण के रूप में उनका हनुमच्चरित्र - चित्रण है। जन-जातियों के प्रति उनकी भावना द्रष्टव्य है :-

" गुह; निषाद, शबरों तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन में,
क्या ही सरल वचन रहते हैं
इनके भोले आनन में।
इन्हें समाज नीच कहता है
पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव है,
किन्तु नहीं वैसी वाणी।"[1]

राजनीतिक जीवन की झाँकी

कवि एक सामाजिक प्राणी है। अत: समाज की गतिविधियों से उसका प्रभावित होना स्वाभाविक है। वह उसके परिवेश से प्रभाव ग्रहण किए बिना नहीं रह सकता। गुप्तजी का युग राजनीतिक क्रान्ति का युग था। इसलिए राजनीति का उनपर व्यापक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उनके काव्य में तत्कालीन

1- मैथिलीशरणगुप्त - पंचवटी ; तिरसठवाँ संस्करण, 2028 वि० ; पृष्ठ - 16

राष्ट्रीय चेतना सर्वत्र द्रष्टव्य है। " गुप्तजी ने अपने युग की विकासशील राजनीतिक चेतना को ग्रहण किया है। उसके प्रति वे अत्यन्त संवेदनशील रहे हैं। उनकी आरम्भिक राष्ट्रवादी काव्यप्रवृत्तियाँ राजनीतिक एकता के प्रतीक ब्रिटिश शासन की आशंसा और उसकी अकल्याणकारी कार्य-पद्धति की आलोचना के रूप में अभिव्यक्त हुई। उनका आरम्भिक स्वरूप हिन्दू-राष्ट्रवाद से निर्मित हुआ और वह क्रमशः कांग्रेस की राजनीति के समीप आता गया। तत्पश्चात् वह कांग्रेस की राजनीति और गाँधीजी के राजनीतिक आदर्श से शक्ति संचय करता रहा और अन्त में विश्व-जनतन्त्र का समर्थक बना।"[1]

तत्कालीन समाज में राजनीतिक प्रभाव के कारण अनेक आन्दोलन एवं क्रान्ति हुए। राजनैतिक आन्दोलनों ने जन-जागरण के लिए और अपने देश को स्वाधीन करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। गुप्तजी ने भी इस प्रभाव से प्रेरित होकर अपने काव्य में देश के अतीत के गौरव का गान किया है। गुप्तजी की राजनीतिक चेतना में प्रमुखतः उनका राष्ट्रप्रेम एवं स्वदेशप्रेम व्यक्त हुआ है। " भारत-भारती " में तो . सर्वत्र अतीत का गान किया है एवं अतीत के माध्यम से जनताओं को उद्बोधित करने का प्रयत्न किया है :-

" यद्यपि हताहत गात में कुछ साँस अब भी आ रही,
पर सोच पूर्वापर दशा मुँह से निकलता है यही,
जिसकी अलौकिक कीर्त्ति से उज्ज्वल हुई सारी मही,
था जो जगत का मुकुट, क्या हाय, यह भारत वही? "[2]

गुप्तजी के राष्ट्रकवित्व के विषय में श्री बलदेव प्रसाद मिश्र का कहना है- " उनकी भारत-भारती के द्वारा तो हिन्दू-जगत में राष्ट्रीय भावना का

1- डा० कमलाकान्त पाठक - मैथिलीशरणगुप्त : व्यक्ति और काव्य ; 1960 ; पृष्ठ - 94

2- मैथिलीशरणगुप्त - भारतभारती (1982) ; पृष्ठ - 81

प्रभाव-पूर सा आ गया। बच्चा उनके सुर में सुर मिलाता हुआ बोल उठा," हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी, आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी। राष्ट्र, की समूची आत्मा " भारत भारती " की पंक्तियाँ में बोल उठी। जो काव्य को केवल कला कहने के अभ्यासी हो गये हैं और उसे बौद्धिक विकास का एक उपकरण मात्र मानते हैं, वे भले ही भारत-भारती में कोई विशेषता न देखें, परन्तु हमारे विचार में राष्ट्रकवि का राष्ट्रकवित्व सार्थक न होता, यदि वे भारत-भारती न लिखते। "1

गुप्तजी का राष्ट्रप्रेम हिन्दुत्व से अनुप्राणित है। प्राय: सभी काव्यों में उन्होंने भारत के अतीत गान के माध्यम से स्वदेश प्रेम एवं राष्ट्रप्रेम को व्यक्त किया है। मंगल घट में मातृभूमि का स्तवन करते हुए उनका है :-

" नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल, तारे मण्डल हैं
बन्दीजन खग वृन्द, शेष-फण सिंहासन है।
करते अभिषेक प्रमोद हैं, बलिहारी इस देश की,
है मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्त्ति सर्वेश की। "2

अतीत से प्रेम प्रकारान्तर से उनके स्वदेश-प्रेम का ही व्यक्त रूप है। भारत-भारती में कवि अतीत के गौरव का गान करता हुआ समाज-सुधार की ओर संकेत करता है :-

" हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा,
धुव-धर्म-पथ में कुप्रथा का जलसा है बिछ रहा

1-ग्रन्थ सम्पादक : श्री ऋषि जैमिनी कौशिक " बरुआ " ; राष्ट्र कवि मैथिलीशरणगुप्त अभिनन्दन ग्रंथ ; पृ0 - 545

2- मैथिलीशरणगुप्त - मंगलघट ; सं0 1967 ; पृष्ठ - 9

सुविचार के साम्राज्य में कुविचार की अब क्रान्ति है,
सर्वत्र पद-पद पर हमारी पूर्ण होती भ्रान्ति है। "1

तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ने के कारण कवि भारत की भाषा, साहित्य एवं धर्म के माध्यम से कवि जन-जागरण का संदेश देता है। गुप्तजी स्वदेशसंगीत में भाषा के द्वारा राष्ट्र के उत्थान की बात कहते हैं :-

" मेरा दुर्लभ देश आज यदि अवनति से आक्रान्त हुआ,
अन्धकार में मार्ग भूलकर भटक रहा है भ्रान्त हुआ।
तो भी भय की बात नहीं है, भाषा पार लगावेगी
अपने मधुर स्निग्ध नाद से उन्नत भाव जगावेगी। "2

भारत-भारती में कवियों को उद्बोधित करते हुए गुप्तजी कहते है :-

" कवियो, उठो, अब तो अहो, कवि-कर्म की रक्षा करो,
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो। "3

गुप्तजी विश्ववन्धुत्व की भावना को व्यक्त करते हुए कहते हैं :-

" तुम हो विश्व कुटुम्बी आर्य, हों तद्रूप तुम्हारे कार्य
प्रेम देश को करके पार, करें विश्व में पुनः प्रसार
करके पहले आत्म सुधार ; कर लो भारत का उद्धार
फिर लोकोपकार में लीन, विचरों सभी कहीं स्वाधीन। "4

1- मैथिलीशरणगुप्त - भारतभारती ; सं0 1983 ; पृष्ठ - 137
2- मैथिलीशरणगुप्त - स्वदेशसंगीत-मेरीभाषा ; पृष्ठ - 76
3- मैथिलीशरणगुप्त - भारत भारती ; सं0 1983 ; पृष्ठ - 138
4- मैथिलीशरगुप्त - हिन्दू ; पृष्ठ - 379

उस समय राष्ट्र की माँग क्या थी, इसे कवि ने अच्छी तरह परखा है :-

" भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"[1]

गुप्तजी के समय में काँग्रेस समिति की स्थापना हो चुकी थी । गाँधी जी ने भी राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण कर लिया था । गाँधीजी के राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने से राजनीतिक चेतना में एक परिवर्तन आया और देशप्रेम की भावना सर्वत्र व्याप्त हो गई। अतः गुप्तजी भी अपने युग के प्रभावों से वंचित नहीं रहे । वे गाँधीजी के विचारों से काफी प्रभावित हुए । राष्ट्रीय प्रेम से ओत-प्रोत कविताओं के द्वारा गुप्तजी ने जन-जागरण का संदेश दिया। गुप्तजी की राष्ट्रीय चेतना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विस्तारित है। उनकी व्यापक राष्ट्रीय भावना के विषय में डा० कमलाकान्तपाठक ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है:- "व्यापक राष्ट्र-भावना से अभिप्राय सांस्कृतिक मनोभावना से है, क्योंकि देशभक्ति की प्रेरणा से कवि ने अपने देश के अतीत की भव्यता और धार्मिक तथा सांस्कृतिक समन्वय की धारा को आत्मसात किया है। यह कवि की विचारधारा का विस्तार है और उन्नयन भी। वर्तमान युग के विषयों में काव्य-रचना करके कवि ने अपने स्वातंत्र्य-प्रेम, पुनरुत्थान की भावना और राष्ट्र-निर्माण एवं विश्व-कल्याण की निष्ठा को अभिव्यक्त किया है। राजनीतिक चेतना की प्रबंधान्तर्गत अभिव्यक्ति कवि के कथा-काव्यों में हुई है और इसके द्वारा उसके राजनीतिक आदर्श सुस्पष्ट हुए हैं। "विश्व-वेदना" में युद्ध और शांति का प्रश्न, "राजा - प्रजा" में लोकतन्त्र की समस्या और वैतालिक में पाश्चात्य और भारतीय जीवन-विधि के एकीकरण की आवश्यकता

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; प्रथमसंस्करण ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 334

का क्रमशः व्यवहारिक उत्तर, समाधान तथा विवरण दिया गया है।"[1]

भारतीय संस्कृति में पल्लवित राजनीति के अन्तर्गत अपने देश को समृद्धशाली बनाने के लिए दूसरे देश पर अन्याय करना अवांछनीय माना गया है। इसके अनुसार अपने देश की उन्नति के साथ-साथ अपने पड़ौसी देशोंकी भी उन्नति की कामना करनी चाहिए। गुप्तजी की राजनीतिक विचार-धारा अत्यन्त उदार एवं व्यापक है। उन्होंने विभीषण के मुख से घोषणा की है कि देश की रक्षा के निमित्त उचित उपाय करना चाहिए, किन्तु अपने देश की रक्षा के लिए दूसरे देश के साथ अन्याय नहीं करना चाहिए। विभीषण कहताहै-

> " तात, देश की रक्षा का ही कहता हूँ मैं उचित उपाय
> पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरों पर अन्याय"[2]
> किसी एक सीमा में बँधकर रह सकते हैं क्या ये प्राण
> एक देश क्या, अखिल विश्व का तात, चाहता हूँ मैं त्राण

भारतीय राजनीति में किसी दूसरे देश पर जबरदस्ती अधिकार करना, दूसरे देश के धन को लूटना, दूसरे देशों के साथ अन्याय करना, छोटे-छोटे कारणों को लेकर दूसरे देश पर आक्रमण करना, वहाँ की शान्ति को भंग करने का प्रयत्न करना तथा दूसरों को अनर्थक कष्ट पहुँचाना अवांछनीय माना गया गया है। यहाँ पापी के धन को अधम-धान्य सदृश माना गया है। उस धन का भोग करना तो दूर की बात, स्पर्श करना भी मना है। कवि ने इस बात को उर्मिला के माध्यम से व्यक्त किया है। साकेतवासी जब लंका पर आक्रमण करने के लिए तथा उसके धन को लूटने के लिए प्रस्तुत होते हैं तो उर्मिला क्रुद्ध होकर गर्जन कर उठती है---

---

1- डा० कमलाकान्तपाठक - मैथिलीशरणगुप्त ; व्यक्ति और काव्य ; प्रथमसंस्करण ; 1960 ; पृष्ठ - 99

2- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 437

" नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिंधु में वहीं डुबोना।
धीरों, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।
सावधान वह अधम-धान्य-साधन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना।"1

कवि ने उर्मिला के माध्यम से इस बात की ओर संकेत किया है कि शत्रु से युद्ध करते समय उसे यह शिक्षा दे देनी चाहिए कि उसे अनाचार नहीं करना चाहिए अन्यथा दण्ड का भोग करना पड़ेगा। उर्मिला अयोध्या वासियों से कहती है:-

" पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अब हो दण्ड और इति दया तितिक्षा।"2

राज्य का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जो राज्य के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने पर तत्पर हो। कवि ने भरत के माध्यम से यह व्यक्त किया है कि राज्य के अधिपति को राज्य के सुखों को भोगते हुए भी उसके कठोर उत्तरदायित्व को नहीं भूलना चाहिए:-

" राज सुख है बलि पुरुष का भोग
मूल्य जिसका प्रण का विनियोग
स्वार्थिनी तू कर सकेगी त्याग ?
राज्य में घर - से लगी हो आग।"3

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 474
2- वही, पृष्ठ - 475
3- वही, पृष्ठ - 199

गुप्तजी आधुनिक विचारों से प्रभावित होने के कारण पूंजीवाद का विरोध करते हैं। वे पूंजीवादियों को "दस्यु" तक कहने में नहीं हिचकते। गुप्तजी की दृष्टि में संग्रह की प्रवृत्ति के साथ-साथ त्याग की प्रवृत्ति का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। ईशोपनिषद में "तेन त्यक्तेन भुंजीथा: "कहकर त्याग के साथ भोग का आग्रह किया गया है। गुप्तजी भारतीय संस्कृति में विकसित विचारधारा का समर्थन करते हुए "साकेत" में कहते हैं कि जब धन समाज के किसी एक ही वर्ग के हाथों में एकत्रित हो जाता है तभी वह समस्त अनर्थों को जन्म देता है। जो धन का संग्रह करके उसका त्याग नहीं करता, जो संसार का धन लूट-लूट कर अपने पास रखता है वह वास्तव में बहुत बड़ा लुटेरा है:-

"हाँ, तब अनर्थ के बीज अर्थ बोता है,
जब एक वर्ग में भुक्तिबद्ध होता है।
जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है
वह दस्यु लोक धन लूट-लूट धरता है।"[1]

गुप्तजी ने अपने काव्य में समष्टि के लिए व्यष्टि के बलिदान की प्रेरणा दी है। रामचन्द्र के माध्यम से उन्होंनेकहलवाया है कि वास्तव में हमें समाज के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान करना चाहिए--

" निज हेतु बरसता नहीं व्योम का पानी
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।"[2]

राजा-प्रजा का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर होता है। प्रजा-वत्सल राजा को प्रजा के समान कोई दूसरा प्यारा नहीं होता है। बन-गमन के समय राम

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 232
2- वही, पृष्ठ - 233

के माध्यम से कवि ने इस बात की ओर संकेत किया है। दुःखी प्रजा को सांत्वना देते हुए राम कहते हैं—

"तुमसे प्यारा मुझे कौन? कातर न हो
मैं अपना भी त्याग करूँ तुमपर कहो?
सोचो तुम सम्बन्ध हमारा नित्य का,
जब से भव में उदय आदि आदित्य का
प्रजा नहीं, तुम प्रकृति हमारी बन गये,
दोनों के सुख-दुःख एक में सन गये।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने राजनीतिकविचारों के आधार के रूप में धर्म को ही माना है। धर्म-सम्पुष्ट राजनीति ही समाज के यथार्थ अभ्युदय का आवाहन कर सकती है।

राज्य-विषयक विचार

गुप्तजी के काव्य में राज्य के विषय में आधुनिक युग के विचारों का भी अभिव्यंजन हुआ है। नवीन शिक्षा-पद्धति के प्रवर्तन और पाश्चात्य जगत के सम्पर्क के फलःस्वरूप समाज और राज्य के विषय में नयी विचार धाराओं का भारतीय समाज में भी प्रवेश हो गया। भारतीय चिन्तकों ने देखा कि वे विचार उनके लिए सर्वथा नवीन नहीं थे। महाभारत, रामायण तथा पुराणों में कई स्थानों पर वे विचार भिन्न-भिन्न ऋषियों और मुनियों के माध्यम से प्रकट

1— मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि ; पृष्ठ - 129

किए जाते थे। लोक-हित की ओर उन्मुख इन विचारधाराओं ने समाज में नयी चेतना की धूम मचा दी। कई स्थानों पर अरस्तू, सिसरो, ब्लंशली और हालैंड के विचारों को गुप्तजी ने अपने काव्य में भी स्थान दिया है। हमें इन कतिपय पाश्चात्य विचारकों के राज्य-विषयक सिद्धान्तों के विषय में संक्षेप में जान लेना समीचीन प्रतीत होता है। राज्य के विषय में अरस्तू के मत का विशेष महत्त्व है। उनके अनुसार राज्य "कुटुम्बों और ग्रामों का वह संघ है जिसका उद्देश्यपूर्ण और स्वयंप्राप्त जीवन है।" पूर्ण और स्वयंप्राप्त जीवन का आशय है और प्रतिष्ठापूर्ण जीवन।"[1]

रोमन लेखक सिसरो के विचारानुसार राज्य "~~एक बहुसंख्यक समाज है~~ जो रोमन लेखक सिसरो के विचारानुसार राज्य "एक बहुसंख्यक समुदाय है जो संयुक्त अधिकारों और सुविधाओं के उपयोग के आधार पर संगठित होता है।"[2]

ब्लंशली - का मत है कि राज्य "किसी भू-भाग के राजनैतिक रूप से संगठित जन-समुदाय को कहते हैं।"[3]

अंग्रेज विधान शास्त्रज्ञ हालैण्ड के मतानुसार राज्य बहुत से मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर अधिकार रखता हो, और जिसमें बहुसंख्यक दल या किसी निश्चित वर्ग का निर्णय इस दल या वर्ग की शक्ति द्वारा समुदाय के उन व्यक्तियों से भी स्वीकार कराया जा सके जो उसका विरोध करते हों।"[4]

1- जोवेटस ट्रान्सलेशन-एरिस्टोटलस पॉलिटिक्स ; पृष्ठ - 120
2- गार्नर - पालिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट ; पृष्ठ - 51
3- गार्नर - पालिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट ; पृष्ठ - 51
4- एलिमेन्ट्स आफ जुरेस प्रूडेन्स ; हालैण्ड ; 67वाँ संस्करण ; पृष्ठ - 40

वस्तुत: राज्य प्रजा के लिए है। राज्य केवल राजा की सम्पत्ति नहीं है राजा के जीवन में कर्तव्य करने की प्रधानता होनी चाहिए राम चन्द्र राजा के रूप में प्रजा के कल्याण के लिए ही राज्य के उत्तरादायित्व को स्वीकार करते हैं। गुप्त जी ने लक्ष्मण के माध्यम से इस बात की ओर संकेत किया है :-

"..... राज्यभार तो
वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सब को भी
मानों बिवश विसारेंगे।"[1]

राज्य का शासक वही बन सकता है जिसमें अन्याय एवं अत्याचार को दूर करने की शक्ति हो, जो अन्याय का प्रतिकार करके न्याय को स्थापित कर सके अन्यथा वह राजा राजासन से हटाने योग्य होता है। कवि ने इस बात को द्रोपदी के मुख से अभिव्यक्त किया है:-

" तुममें यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का,
तो क्यों करते नहीं त्याग तुम राजासन का?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हो,
तो छूटो क्यों राज-दण्ड दूषित करते हो।"[2]

भारतीय संस्कृति को मानने वाले नृपतियों ने राज्य को कभी भोग की वस्तु नहीं माना। उनके अनुसार राज्य तो प्रजा की धरोहर है। वे राज्य-कार्य को अत्यन्त उत्तरादायित्व से पूर्ण मानते हैं। गुप्तजी के अनुसार राजा के जीवन में अधिकार भोगने की नहीं, अपितु कर्तव्य करने की प्रधानता होनी

1- मैथिलीशरणगुप्त - पंचवटी ; तिरसठवाँ संस्करण ; 2028 वि० ; पृ०-10
2- मैथिलीशरणगुप्त - सैरन्ध्री ; तेरहवाँ संस्करण ; 2024 वि० ; पृष्ठ-32

चाहिए। राज्याभिषेक के समय राम इस बात की ओर संकेत करते हुए सीता से कहते हैं:-

" राज्य है प्रिये, भोग या भार ?
बड़े के लिए बड़ा ही दंड,
प्रजा की थाती रहे अखण्ड।"[1]

इस प्रकार रामराज्य को आनन्द उपभोग की वस्तु नहीं मानते। उनके अनुसार राज्य का भार अत्यन्त उत्तरादायित्व का द्योतक है। राम स्वयं को राज्य का नियंत्रक न मानकर राज्य का उत्तरादायी मानते हैं। वे राज्य को चलाने में सभी के विचारों को उचित मान देते हैं। वे सामूहिक विचारों के आधार पर राज्य को चलाना श्रेयस्कर मानते हैं। राम की इस राज्य-प्रणाली में प्रजातन्त्र का स्वर सुनाई पड़ता है। वे कहते हैं:-

" रहेगा साधु भरत का मंत्र,
मनस्वी लक्ष्मण का बल तंत्र,
तुम्हारे लघु देवर का धाम,
मात्र दायित्व हेतु है राम।"[2]

दुनिया की दृष्टि में राज्य का चाहे जो भी महत्त्व हो, परन्तु भारतीय मनीषा ने इसे सदा लोक-सेवा का माध्यम माना है। इसे उन्होंने केवल थाती मानी है। तदनुसार कर्त्तव्य-पालन के पश्चात् राजा को राज्य से पृथक् हो जाना चाहिए। यदि संभव हो तो उसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। यह बात गुप्तजी के लक्ष्मण भी कहते हैं:-

---

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 57
2- वही, पृष्ठ - 57

" होता यदि राजत्व मात्र ही लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको छोड़ मार्ग लेते वन का?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है तो हम बढ़ते जाते हैं,
किन्तु मुझे तो सीधे सच्चे, पूर्व भाव ही भाते हैं। "1

गुप्तजी राजा तथा प्रजा का समन्वय करना चाहते हैं। वे प्राचीन सार्वभौमिकता के विरुद्ध हैं, परन्तु राजा का होना उन्हें स्वीकार है। राजा प्रजा के द्वारा ही चुना जाना चाहिए। उनके अनुसार देश एवं राष्ट्र तभी समुन्नत हो सकता है जब राजा एवं प्रजा परिवार के सदस्य की भाँति परस्पर हिलमिल कर रहें। कवि ने भरत के माध्यम से कहा है :-

" विगत हों नरपति, रहें नर मात्र
और जो जिस कार्य के हों पात्र-
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त। "2

उनके राज्य-विषयक विचार भारतीय वातावरण में विकसित विचारों के ही द्योतक हैं। वे प्राचीन राज्य-प्रणाली को दूषित बताते हैं एवं कहते हैं :-

" राज-पद ही क्यों न अब हट जाय?
लोभ-मद का मूल ही कट जाय?
कर सके कोई न दर्प न दम्भ
x — — — x — x — —

"भारत-भारती" नामक कृति में गुप्तजी ने राजा के सम्बन्ध में बताया है कि वे प्रजा-पालक होते हैं—

1- मैथिलीशरणगुप्त - पंचवटी ; तिरसठवाँ सं०, 2028 वि० ; पृ० - 11
2- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृ० - 202
3- वही - - - - - - - - - - - - - - - पृष्ठ - 202

"देखो, महीपति उस समय के हैं प्रजा-पालक सभी,
रहते हुए उनके किसी को कष्ट हो सकता कभी।"

उनका कहना है कि ऐसे राज्य-पद को क्यों न नष्ट कर दिया जाए, जिससे कि लोभ और मद की जड़ ही कट जाए। राज्यपद के न रहने पर कोई झूठा घमण्ड और पाखण्ड न कर सकेगा। इस प्रकार संसार में एक नए युग का आरम्भ हो। समस्त नरपति समाप्त हो जाएं। केवल नर समुदाय रहे जो जिस पद के उपयुक्त हों वे उसी पर नियुक्त किये जाँय। सभी लोग एक ही परिवार के सदस्य के समान जीवन को व्यतीत करें।

कई स्थानों पर यह भाव दरसाया गया है कि गुप्तजी राज्य-प्रथा का सम्पूर्ण अंत नहीं चाहते। वे उस राज्य-प्रणाली का अंत चाहते हैं जिसमें सभी राज्य-भक्ति को अपनी शक्ति समझते हैं, जिसमें ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-मद और पद-लोलुपता भरी हुई है। गुप्त जी ऐसी राज्यप्रणाली को श्रेयस्कर मानते हैं जिसमें विश्व की सभी अव्यवस्था और विद्रोह को समाप्त कर एक व्यवस्थित राज्य की स्थापना करने की शक्ति निहित हो। भरत के मुख से गुप्तजी के स्पष्ट रूप से कहलवाया है :-

" अनुज उस राज्यत्व का हो अंत ,
हन्त! जिस पर कैकेयी के दैत्य।
किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त,
विश्व के विद्रोह करके शान्त।"[2]

इस प्रकार कवि कुराज्य का अन्त चाहता है, उनकी दृष्टि में राम-राज्य सर्वथा स्पृहणीय है। कवि केवल राज्य का ही नहीं, राम के साम्राज्य का भी समर्थन करता है।

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत, 2023 वि० ; पृष्ठ - 69।

2- वही, पृष्ठ - 202

गुप्त जी ऐसी राज्य-प्रणाली का सर्वथा त्याग करने के लिए कहते हैं जो धर्म बेचकर प्राप्त हो। ऐसे राज्य को वे स्वीकार नहीं करते जो व्यवसाय बन गया हो, जिसके लिए भाई को वनवास, पिता की हत्या, माता का वध तथा गृह का विनाश हो। वीर शत्रुघ्न के मुख से कवि ने कहलवाया है-

"आर्य छाती फट रही है हाय।
राज्य भी अब तो बना व्यवसाय।
हम उसे ले बेंचकर भी धर्म,
अतुल कुल में आज ऐसा कर्म।
भ्रातृ निष्कासन, पिता का घात
हो चुके दो-दो जहाँ उत्पात,
और दो हैं-मातृवध, गृहदाह।
बस यही इस चित्त की अब चाह।"[1]

राज्य में निरंतर शान्ति बनाए रखने के लिए युद्ध तथा शस्त्र-बल की भी आवश्यकता है। कवि कहता है--

"इस हेतु है जन्म टंकार का,
न टूटे कभी तार झंकार का।"[2]

कवि जीवन में चाप के प्रयोग को अनिवार्य बताते हुए कहता है--

"यही ठीक टंकार होती रहे
सभी ओर झंकार होती रहे।
सुनो किन्तु है लोभ संसार में,
इसी हेतु है क्षोभ संसार में।
हमें शान्ति का भार जो है मिला

1- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 203
2- वही - पृष्ठ - 324

इसी चाप की कोटियों से खिला।"[1]

गुप्तजी के अनुसार राज्य किसी एक की सम्पत्ति नहीं है। राज्य उन सब लोगों के लिए सुख एवं शान्ति प्रदान करने वाला है जो राज्य का कर देते हैं। गुप्तजी के अनुसार राजा या शासक और कुछ नहीं केवल प्रजा का प्रतिनिधि है, प्रजा के समस्त सुखों का ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य है। यदि राजा प्रजा के सुखों का ध्यान नहीं रखता है तो वह सर्वथा त्याज्य है। वक्संहार में कवि कहता है--

" राजा प्रजा का पात्र है,
वह लोक-प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजापालन नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुने, जो सब तरह सब की सुनें।
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है।"[2]

राज्य के प्रति कवि ने यही विचार "साकेत" में भरत के माध्यम से व्यक्त किया है। भरत कहते हैं- राज्य किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। यह तो उन्हीं की सुख और शान्ति के लिए है जो कि इसके लिए अपना बलिदान करते हैं। उनके द्वारा नियुक्त किया गया शासक तो वास्तव में लोक सेवक मात्र है--

" तात राज्य नहीं किसी का वित्त,
वह उन्हीं के सौख्य-शान्ति-निमित्त-
स्वबलि देते हैं उसे जो पात्र,
नियम शासक लोक-सेवक मात्र।"[3]

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 328
2- मैथिलीशरणगुप्त - वक्संहार ; 2021 वि० ; पृष्ठ - 22
3- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 203

राज्य सर्वदा प्रजाका माना गया है। कवि ने युधिष्ठिर के मुख से इसी बात को कहलवाया है:-

"हमारा नहीं प्रजा का राज्य ;
किन्तु वह नहीं धर्म्मतः त्याज्य।"[1]

गुप्तजी की दृष्टि में राज्य-प्रणाली में लोक मत का सर्वोपरि स्थान है। राजा अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। उसे प्रत्येक कार्य करने से पहले प्रजा-वर्ग के सुख का ध्यान रखना पड़ता है। लोकमत को अनसुना करने वाला राजा त्याज्य माना गया है। साकेत में वन जाते हुए राम को रोकते हुए समस्त साकेतवासी कह उठते हैं --

"राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना।"[2]

और तो और, राजा को भी लोक-मत की उपेक्षा करने का अधिकार नहीं है। लक्ष्मण कहते हैं- "भला, भरत कौन होते हैं जो राज्य के अधिकारी बनें। पिता को क्या अधिकार है जो इस प्रकार वे राज्य सौंप रहें हैं? यह समस्त साम्राज्य तो प्रजा के लिए ही है:-

" भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें,
पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।"[3]

सं. २००२वि०

1- मैथिलीशरणगुप्त - वन-वैभव ; पृष्ठ - 17
2- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 129
3- वही, पृष्ठ - 77

गुप्तजी की दृष्टि में राजा प्रजा के द्वारा ही चुना जाता है एवं राजा प्रजाओं के लिए नियम बनाता है। वे नियम उसे स्वयं भी पालन करने चाहिए। कभी-कभी शासक सोचता है कि जो नियम बनाए गए हैं वे केवल प्रजा के लिए ही हैं, शासक पर उन नियमों का कोई जोर नहीं चल सकता। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। कवि ने लक्ष्मण के माध्यम से शासकों को सचेत करते हुए कहा है कि सब एक सत्ता के शासन के अधीन हैं। यह शासन स्वयं शासक पर भी है। अत: उसे भी गर्व और अहंकार में नहीं फूलना चाहिए:-

" शासन सब पर है, इसे न कोई भूले-
शासक पर भी, वह भी न फूलकर फूले।"[1]

"चन्द्रहास" में गुप्तजी ने पौराणिक इतिवृत्त का आख्यान किया है। उन्होंने नवीन राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति भी उसी माध्यम से की है। राज्य संस्था का उद्देश्य कौन्तलप के मुख से सुनिए-

1- कौन्तलप : " राज्य और शासन का उद्देश्य तुमसे छिपा नहीं,
प्रजा वर्ग के ही लिए राज्य है, हमें स्वार्थ चिंता सदा त्याज्य है,
इसी अर्थ है राज सत्ता सभी, न हो देश में दुर्व्यवस्था कभी।"[2]

राजा के कर्तव्य के बारे में गुप्तजी का कहना है--

2- चन्द्रहास: "राजकुल असह्य दायित्व-भारों से दबा हुआ है। मैं तो यही कहूँगा कि--

"सारी प्रजा का प्रहरी-स्वरूप, है भारवाही बस भृत्य भूप,
उसे नहीं योग विराम का ही, है राज्य भोगी वह नाम का ही।"[3]

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 260
2- मैथिलीशरणगुप्त - चन्द्रहास ; सप्तभावृत्ति 2017 तृतीय अंक ; तृ० दृश्य ; पृष्ठ-166
3- वही, द्वितीय अंक, द्वितीय दृश्य ; पृष्ठ - 52

निम्नलिखित उदाहरण में प्रजा को राज-काज में सम्मिलित करने की भावना व्यक्त की गई है—

चन्द्रहास : तो इसमें (प्रजा से पूछ-पूछ कर चलने में) बुराई ही क्या है?

"प्रजा के लिए ही नृपोद्योग है, इसी के लिए राज्य-योग है।
प्रजा-श्रेय ही सर्वदा ध्येय है, इसी से प्रजा-सम्मति ज्ञेय है।"[1]

"गुप्तजी ने प्रजातन्त्र की भावना को पौराणिक परिवेश प्रदान किया है, अतएव वे राजा के आदर्श को प्रजातांत्रिक स्वरूप दे रहे हैं। इंगलैण्ड के प्रजातन्त्र की जो स्थिति वहाँ के सम्राट की है वही, गुप्तजी का यहाँ प्रतिपाद्य है।"[2]

गुप्तजी किसी एक देश में एक ही राज्य व एक ही शासन का होना श्रेयस्कर समझते हैं। उनके अनुसार यदि एक राष्ट्र में एक शक्तिशाली राजा न होकर अगणित छोटे-छोटे राजा हों तो वहाँ राष्ट्र की शक्ति संगठित रूप में न रहकर छिन्न-भिन्न हो जाती है। उन्होंने लिखा है:-

" एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।"[3]

यदि राजा प्रजा का रंजन करने में असमर्थ है तो प्रजा का कर्तव्य है कि वह ऐसे राजा से विद्रोह करे। "पंचवटी" में कवि ने प्रजातन्त्र की शक्ति के बारे में वर्णन किया है— "पर अपना हित आप नहीं क्या कर सकता है यह नरलोक।"[4] "वक संहार" में भी उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि

1- मैथिलीशरणगुप्त - चन्द्रहास ; सप्तभावृत्ति 2017 द्वितीय अंक, द्वितीय दृश्य, पृष्ठ - 53

2- डा० कमलाकान्त पाठक - मैथिलीशरणगुप्त - व्यक्ति और काव्य-प्रथम संस्करण ; 1960 ;पृ0574

3- मैथिलीशरणगुप्त - पंचवटी ; तिरसठवाँ संस्करण ;2026 वि0; पृ0-10
4-

यदि राजा प्रजा-पालक नहीं दुर्बल है, कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं है तो कम से कम न्याय के लिए प्रजा को उससे लड़ना चाहिए। "यदि वह प्रजा पालक नहीं तो त्याज्य है।"[1] प्रजा राजा से यदि संतुष्ट नहीं है तो वह दूसरा राजा भी चुन सकती है, क्योंकि राज्य प्रजा का ही है। "साकेत" के शत्रुघ्न भी विशेष अवसर पर राज्यद्रोह को धर्म मानते हैं। यदि प्रजा राज्य को प्रलोभन की वस्तु मान्कर उसका उपयोग करे तो "राज्य-पद ही क्यों न अब हट जाय?"[2] राज्यत्व प्रजा का व्यवस्थागार होने के कारण "दायित्व का ही भार है।" राष्ट्रीय स्वतंत्रता को स्पष्ट करते हुए डा० सत्येन्द्र के अनुसार "प्रजातन्त्र- स्वतन्त्रता हारे उर्जे की बात है, वह कवि के लिए नियम नहीं। वह प्रजा के हेतु राजा चाहता है, पर यह भी मानता है कि राज्य असल में प्रजा का ही है, पर प्रजा की यह स्वतंत्रता चाहता है कि यदि राजा अहितकर सिद्ध हो तो वे उसे पृथक कर दें। राजा कुछ न हो केवल प्रजा-भाव की मूर्ति हो। यही राष्ट्रीय स्वतंत्रता है।"[3]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि गुप्तजी राज्य को नागरिकों के सामूहिक कल्याण का विधायक मानते हैं। इसके निर्माण और निर्वाह में इसका यही लक्ष्य सन्निहित है। लोक-कल्याण को राज्य का चरम लक्ष्य माना जा सकता है।"[4]

1- मैथिलीशरणगुप्त - [illegible]; तिरसठवाँ संस्करण ; 2021 वि० ; पृ०-22

2- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2021 वि० ; पृष्ठ - 140-141

3- डा० सत्येन्द्र - गुप्तजी की कला ; चतुर्थ संस्करण ; 2007 वि० ;पृ०125

4- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 24